15369

नन्दाय नमः ॥

मानस राम परत्व

(गीता का हृदय)

ले० — मानस तत्वान्वेषी

पं० श्रीरामकुमारदासजी महाराज रामायणी

मणिपर्वत श्रीअयोध्याजी

प्रकाशक-पं० मानस प्रपन्न तिवारी रामायणीय व्यास

ग्रा० सेमर खेड़ी पो० आगासोद् जिला सागर (म० प्र०)

प्रथम संस्करण १०००] [सर्वाधिकार सुरक्षित] मूल्य ३० नये पैसे

※ श्रीमद्भागवत में श्री रामपरत्व ※

ईश सदा सब ईश-कलान के नाथ सबै अवतारन के।
पाद सुचिन्हन ते अवतार अनेक धरैं जन तारन के॥
स्वामि सदा चहुँ पाद विभूति के अंशकला पद धारन के।
भागवती सुचि सार सुपाद नमौं अवधेश कुमारन के॥

आज अनेकानेक श्री रामोपासकों द्वारा यह शंका उठायी जाती है कि जब श्री रामोपासकों की सबसे बड़ी प्राञ्जल संस्था श्री श्रीरामानन्दीय श्री वैष्णवों का आचार्य परम्परा में भगवान द्वैपायनकृष्ण वेदव्यास जी हो चुके हैं और उनकी अन्तिम एवं सर्वोत्कृष्ट अथच प्रौढ़ रचना श्रीमद्भागवत महापुराण ख्यात है। जो कि भगवच्छरणागति रहस्य के सर्वांग से पूर्ण परमोत्कृष्ट शास्त्र है। परन्तु इस महाग्रन्थ में प्रधान रूपेण भगवान श्रीकृष्णावतार का ही परत्व, रहस्य एवं चरित्र है। तब क्या कारण है कि इस महापुराण में श्री वेदव्यास जी ने अपने उपास्यदेव श्रीमद्दाशरथी रामजी का चरित्र अथच परत्व प्रधान रूपेण वर्णन नहीं किया ?

पर ऐसा प्रश्न तभी तक उठता है जब तक कि श्रीराम परत्वान्वेषण दृष्टि से श्रीमद्भागवत को टटोला नहीं जाता है। जिस तरह बहुत से दूध के मंथन से थोड़ा सा ही सारभूत मक्खन निकलता है जो कि देखने में कम होने पर भी उसका मूल्य एवं गुण समस्त दूध किंवा निःशेषित मही से सर्वथा एवं सर्वदा अधिक ही हाता है। उसी तरह जब श्रीमद्भागवत् का मंथन किया जाता है तो उसका सारभूत मक्खन रूप श्रीरामपरत्व ही ठहरता है अर्थात् श्रीमद्भागवत में श्रीरामपरत्व का ही प्राधान्य सिद्ध होता है, और तब इससे श्री वेदव्यास जी की अन्तर्दृष्टि, श्रीरामोपासना की अनन्यता परिस्फुटित होती है, जिसका किञ्चिद् दिक्प्रदर्शन मात्र इस पुस्तिका में कराया जा रहा है।

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।

15369

सम्भूत षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥ (१।३।१)

इस प्रथमावतार का नाम नारायणावतार एवं पुरुषावतार है—

भूतैर्यदा पंचभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदि देवः॥
(११।४।३)

इन्हीं षोडशकलांशावतार क्षीराब्धि निवासी से अनेक अवतार होते हैं—

एतन्नानावतारा॰णां निधानं बीजमव्ययम्। (१।३।५)

परन्तु श्रीराम-दाशरथी राम उन नानावतारों में नहीं हैं। इसी लिए उनको अगले श्लोक में "अतः=एभ्यः उक्तानुक्तेभ्यः परं=अतः परम्" कहा गया है।

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम्॥ (१।३।२२)

जिस तरह श्रीराम जी शेषशायी के कलांश न होकर शेषशायी से परे हैं उसी तरह श्री कृष्णावतार क्षीराब्धिशायी के कलांश से नहीं हुआ था अपितु स्वयं शेषशायी भगवान ही श्रीकृष्ण हुए थे, जैसा कि अगला श्लोक स्पष्ट करता है कि—

एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारि व्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥ (१।३।२८)

यही तथ्य अन्यत्र भी बताया है कि—

एष नारायणः साक्षात् क्षीराब्धिनिकेतनः।
नागपर्यंकमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम॥

अस्तु। प्रथम स्कन्ध में जो क्षीरशायी नारायण को सोलह कला वाला कहा गया है, सो वह सोलह कलायें किसकी हैं? इस प्रश्न का सीधा एवं सरल उत्तर है कि वे कलायें परब्रह्म की अनन्त कलाओं में से मात्र सोलह हैं। ब्रह्म सब तरह से अनन्त है तो उसकी कलाओं का भी अन्त नहीं हो सकता-संख्या नहीं हो सकती। वह अनन्त अस-

ख्य कला वाला अर्थात् सम्पूर्ण कलाओं का स्वामी ब्रह्म कौन है? यद्यपि इस जिज्ञासित प्रश्न का उत्तर (१।३।२२) में "अतः परम्" कह कर दे दिया गया है तो भी दूसरे स्कन्ध में 'कलेशः' कहकर स्पष्टीकरण कर दिया गया है। 'कलेशः' का विग्रह होता है—

सर्वासां कलानां ईशः कलेशः

और जो सम्पूर्ण कलाओं का ईश है उसने स्वयं ही इक्ष्वाकु वंश में अवतार लेकर गुरु-पिता माता के निर्देश से प्रिया एवं अनुज के सहित बन में जाकर दशकन्धर बधादि लीला किया—

अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेशः,
इक्ष्वाकुवंश अवतीय गुरोर्निदेशे।
तिष्ठन्वनं सदयितानुज आविवेश,
यस्मिन्विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत् ॥ (२।७।३)

इक्ष्वाकु वंशावतीर्ण श्रीराम जी कलेश-कलाओं के स्वामी हैं और श्री कृष्ण भगवान कला एवं अंश से अवतीर्ण हैं। इसे आगे के श्लोकों में और भी स्पष्ट कर दिया गया है। सहस्रभुज शेषशायी, चतुर्भुज बैकुण्ठाधीश एवं अष्टभुज भूमा पुरुष श्रीराम जी के कलांश हैं—

बैकुण्ठेशस्तु भरतः क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मणः।
शत्रुघ्नस्तु स्वयं भूमा रामसेवार्थमागताः॥

बृहद् ब्रह्म संहिता का यह वाक्य वा. रा. के शिरोमणि टीका में बारबार उद्धृत है, और भी अनेक शास्त्रीय उद्धरण एवं उनका स्पष्ट विवेचन (मानस संघ, रामवन, सतना से प्रकाशित) मानस सिद्धांत पुस्तक में देखा जा सकता है। अस्तु 'प्रकृतमनुसराम' श्रीराम जी के अंश कला भूमा पुरुष हैं, भूमा पुरुष के श्वेत एवं श्याम केश रूपी कलाओं से बलराम और श्रीकृष्ण का अवतार हुआ है जैसा कि

भूमेः सुरेतरबरूथविमर्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सित कृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः

कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥ (२।७।२६)

इसी का समर्थन आगे चलकर १०।८६।५६) में सोदाहरण रूप से किया गया है। यही नहीं इसी श्रीमद्भागवत में ही और भी बार बार आया है कि श्रीकृष्णावतार कलांश से हुआ है। कुछ उद्धरण ये दिये जाते हैं—

१—क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः (२।७।२६)

२—तावितौ भगवतोऽरेरंशाविहागतौ ॥
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहः ॥ (४।१।५६)
यदुकुलोद्भवकृष्ण-वासुदेव एवं कुरुकुलोद्भव कृष्ण अर्जुन।

३—यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम।
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः ॥ (१०।१।२)

४—अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे। (१०।२।६)

५—आविवेशांश भागेन मन आनक दुंदुभेः। (१०।२।१६)

६—ततो जगन्मंगलमच्युताशंसमाहितं सूरसुतेन देवी। १०।२।१८)

७—दृष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमान्-
अंशेन साक्षाद्भगवान् भवाय नः ॥ (१०।२।४१)

८—अवतीर्णोऽश भागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥(१०।१०।३५)

९—अवतीर्णोहि भगवानंशेन जगदीश्वरः। (१०।३३।२७)

१०—अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥ (१०।३८।३२)

११-भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम्।
अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥ (१०।४१।४६॥)

१२-एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि ॥ (१०।४३।२३)

१३-स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगेहेऽवतीर्णः,
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ॥ (१०।५८।२४)

१४-यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥ (११।७।२)

१५-कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥
(१०।८६।५६)

जहां वक्ताओं – श्री व्यास एवं श्री शुकाचार्यादिकों का कथन श्रीकृष्ण को कलांश आदि पुष्ट करता है वहीं संमुख स्तुति करने वालों ने –

पुरुषः परः (१०।१।२३) पूरुषं परम् (१०।३।१२,१३) महापुरुष लक्षणम् (१०।३।२३) पुरुषः परः (१०।१०।२६) परदैवतम् (१०।१२।११) पूर्ण ब्रह्म (१०।१४।३२), अतुल्यातिशयै वीर्यैः (१०।१०।३४) आदि भी कहा है परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि स्तुति में अर्थवाद की प्रधानता रहती है। परन्तु श्रीरामजी के लिये (रामजी के परोक्ष में) वक्तागण श्री व्यास एवं श्री शुकादि का कथन है।

किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताऽभिरामं श्रीरामं तच्चरणसन्निकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान् सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते ॥ (५।१९।१)

इस पंचम स्कन्ध में भी भगवान् आदि पुरुष (परब्रह्म-कलेश) श्रीराम जी का वर्णन करते हुए सबसे विलक्षणता दिखाने के लिए छः बार नमः शब्द का प्रयोग एक ही पद्य में किया है और उसी पद्य में ही श्रीराम जी को नौ विशेषणों से विशेषित किया गया है—

ॐ नमो भगवते, १ उत्तम श्लोकाय, २ नम आर्य लक्षण शीलव्रताय, ३ नम उपशिक्षितात्मने ४, उपासितलोकाय ५, नमः साधुवादनिकषणाय ६, नमो ब्रह्मण्यदेवाय ७, महापुरुषाय८, महाराजाय ९, नमः इति ॥ (५।१९।३)

क्योंकि आचार्यों ने भगवच्छरणागति को षड्विधा बतलाया है देखिये अहिर्बुध्न्य संहिता –

षोढाहि वेदविदुषो वदन्त्येनं महामुने।
आनुकूलस्य संकल्पो प्रातिकूलस्यवर्जनम् ॥
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकर्पण्यो षड्विधा शरणागतिः ॥

इससे छः जगह नमः कहकर श्री शुक ने सूचित किया कि षट् प्रकारक शरणागति एक मात्र श्री सीतानाथ जी की ही लेनी चाहिये अन्य की नहीं। नौ विशेषण देकर अनन्तत्व सूचित किया गया है क्योंकि नौ संख्या का अन्त है नौ के बाद कोई नई संख्या नहीं है, अन्य संख्यायें तो इन्हीं एक से नौ तक की संख्याओं को इकाई दहाई करके बनाई जाती है। इसी प्रकरण में भगवान के अन्य अनेकों रूपों का ग्येय ध्येय रूपेण विभिन्न खण्डों एवं उपासकों के प्रसंग में वर्णन है और न्यूनाधिक नमः एवं विशेषण भी आये हैं पर छ नमः और नौ विशेषण तो अपनी विलक्षणता सबसे अलग रखता ही है।

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं,
स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं,
ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये॥ (५।१६।४)

ब्रह्म के नौ ऐसे विशेषण हैं जो दूसरों में नही दिये जा सकते, वे असाधारण बिशेषण श्रीराम जी को परब्रह्म, अंशी, कलेश, अवतारी, आदिपुरुष आदि सूचित करते हैं। भगवान का मनुष्य अवतार मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए हुआ करता है। अन्य अवतारों में तो भगवान् कहकर ही शिक्षा दिया करते हैं आचरणों द्वारा नहीं, परन्तु साक्षात् परब्रह्म श्रीराम जी ने तो आचरणों द्वारा भी मनुष्यों को शिक्षा दिया है। जो कुतार्किक यह तर्क करना चाहें कि स्त्री के लिये व्याकुल होकर रोना पीटना कौन सी शिक्षा है? उनके लिये गोस्वामी श्रीतुलसी दास जी ने रामचरित मानस में बताया है कि स्त्रियों के ममत्व में फँस कर मनुष्य किस तरह दीन हो जाता है, अतएव स्त्री ममत्व से सदैव अलग रहना चाहिये—

कामिन कै दीनता दिखाई। धीरन के मन विरति दृढ़ाई॥

यदि ऐसा न होता तो ईश्वर में वियोग कहाँ, क्योंकि वास्तविक सीता जी का वियोग तो हुआ ही नहीं था—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षो वधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथास्याद्रमतः स्व आत्मनः
सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ (५।१९।५)
न जन्म नूनं महतो न सौभगं
न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस-
श्चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः ॥ (५।१९।७)

भगवान श्रीराम जी किसी योग्यता को देखकर प्रसन्न नहीं होते वे तो केवल प्रेम मात्र ही देखते हैं, यदि योग्यता देखते तो वानरों और कोल भीलों से मित्रता न करते—

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ॥
केवट मीत कहे सुख मानत वानर बन्धु बड़ाई। (विनय पत्रिका)

और भगवान कृष्ण यदि प्रेमियों का हृदय देखते तो कभी भी ब्रज का परित्याग न करते।

सुरोऽसुरोवाऽप्यथवा नरोऽनरः सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं य उत्तराननयत् कोशलान् दिवम् ॥
(५।१९।८)

देवता, दैत्य, नर, नाग, अर्थात् समस्त विचारशील प्राणियों को यही उचित है कि मनुष्याकार (द्विभुज, धनुर्धर अवधेश श्रीराम जी का ही स्मरण भजन ध्यान जप कीर्तनादि करें। क्योंकि श्रीराम जी ही समस्त उत्तर कोशल (अवध प्रान्त–उत्तरप्रदेश) निवासियों को उनके इसी पांच भौतिक शरीर से अपने दिव्यलोक (त्रिपाद्विभूतिस्थ साकेत) में ले गये। (केवल स्वप्न मात्र में ही दिखलाकर नहीं रह गये) ऐसा अर्थात् प्रत्यक्ष ही पांच भौतिक शरीर से ही कीट पतङ्ग तक को सदैव के लिए त्रिपाद्विभूतिस्थ दिव्यलोक प्रदान किसी अन्य

ने नहीं किया। आचार्य केशव ने तो मानो इसी श्रीमद्भागवत वाक्य की व्याख्या सी करते हुए कहा है कि—

दान कथा रघुनाथ की 'केशव' को वरणै रस अद्भुत भीनी।
जो गति ऊरधरेतन की सो तौ औध के कूकर शूकर लीनी॥

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धाऽगात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः॥ (९।१०।२)

यहाँ नवम स्कन्ध में भी यही बतलाया गया है कि श्रीराम जी किसी के कलांश नहीं हैं, श्रीराम जी में इयत्तावद्ध-गिनती की ही कलायें नहीं हैं, वे कलेश तो साक्षात् परब्रह्म हैं। अपने कुछ अंश (तीन अंश) कलाओं को लेकर साक्षात् परब्रह्म ने ही कौशल्यानन्दवर्धन का रूप धारण किया।

नेदं यशो रघुपते सुरयाचयाऽऽत्त-
लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः
किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥ (९।११।२०)

इस श्लोक में भी-जाके सम अतिशय नहिं कोई। कहकर श्रीराम जी का सर्वाधिक्य सूचित किया गया है।

यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनाऽपि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपाल वसुपाल किरीटजुष्टं
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥ (९।११।२१)

श्री शुकदेव जी कहते हैं कि आज भी श्री रघुपति का अमलयश संसार में व्याप्त है।

द्विजात्मजा ये युवयोर्दिदृक्षणा,
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये।
कलावतीर्णावबनेर्भरासुरान्
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे॥ (१०८९।५६)

अष्टभुज भूमा पुरुष ने तो बहुत स्पष्ट शब्दों में श्रीकृष्ण और अर्जुन को आदेश देते हुए कहा था कि तुम (कृष्ण और अर्जुन) दोनों मेरी कला से अवतीर्ण हुये हों ।

कस्मिन् काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः ।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥ (११।५।१९)

किस समय भगवान के किस रूप का ध्यान पूजनादि करना चाहिए ? यह प्रश्न नवयोगीश्वरों से जीवनमुक्त अमर स्वरूप राजर्षि निमि ने किया था । तब उन नव योगीश्वरों ने कृत युग से आरम्भ करके—

इति द्वापरमुर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नाना तन्त्र विधानेन कलावपि यथा शृणु ॥ (१८।५।३१)

यहाँ तक, कृतयुग, त्रेतायुग और द्वापर युग इन तीनों युगों का ग्येय और ध्येय बतलाकर अब कलयुग का ग्येय और ध्येय बतलाने का उपक्रप करते हुए 'यथाशृणु कहकर सावधान किया । विशेष सावधान करने का कारण यह है कि त्रेता में हुआ अवतार प्रधान रूपेण कलियुगीय मुमुक्षुओं के उपास्य सुनकर आश्चर्य न करना, क्योंकि अन्य युग तो पूर्णतः या अंशतः धर्म युग हैं भी परन्तु कलियुग तो पूर्ण रूपेण मात्र पाप युग ही है । अतः इस पापयुग कलि में कला या अंश की उपासना से सर्वांगीण पूर्णता नहीं आ सकती, कलि में तो परिपूर्णतम की ही उपासना, गान, ध्यान, जप, पूजन आदि से काम चल सकता है । अतएव 'यथाशृणु' कहकर आरम्भ किया—

कृष्णवर्णंत्विषाऽकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥ (११।५।३२)

श्याम वर्ण, स्वच्छ चमकती कान्ति वाले श्रीराम जी को उनके अस्त्र एवं पार्षद आदि के सहित यजन करके उनका ध्यान करते हुए उन्हीं का नाम संकीर्तन करना चाहिये । उनके नाम संकीर्तन, ध्यान, यजनपूजन आदि का माहात्म्य "परिभवघ्नम्, अभीष्टदोहम्, तीर्थास्पदम्,

शरण्यम्, भृत्यार्तिहम्, भवाब्धिपोतम्" आदि शब्दों से अगले श्लोक में बताते हुये स्वयं प्रणाम किया, तथा साथ ही साथ यह भी विधि-विहित किया कि मुमुक्षुओं को अग्रिम दोनों श्लोक बोलते हुए एवं श्लोकार्थ का चिन्तवन करते हुये नित्य ही उन प्रणतपाल महापुरुष श्रीराम जी के चरणारविन्दों की नित्य बन्दना-प्रणाम-दण्डवत् करनी चाहिये।

ध्येय सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं,
तीर्थास्पदं शिवविरञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल ! भवाब्धिपोतं,
वन्दे महापुरुष ! ते चरणारविन्दम्॥ (११।०।३३)

इस श्लोक से कुछ लोग कुतर्क लाकर कह सकते हैं कि इसमें श्रीराम जी का वर्णन कहाँ है ? इसके समाधान के लिये योगीश्वरों ने श्रीराम जी की अवतार कालीन लीला का संकेत करते हुए अगला श्लोक 'त्यक्त्वा सुदुस्त्यजादि' कहा है। इस श्लोक का अर्थ जो लोग कि 'दुराग्रह ग्रह ग्रस्त हैं वे ग्रह ग्रहीत लोग भूतावेश में आकर श्री दाशरथी राम परक न लगाकर अपने अपने उपास्य भगवान के अन्य अवतारों या किन्हीं खास आचार्यों के प्रति खींचतान कर लगाने की दुश्चेष्टा करते हैं पर उनकी वह दुश्चेष्टा एवं तज्जन्य बाग्विलास अपने निरक्षर अनुयायियों में चाहे प्रशंसनीय होती हो परन्तु विद्वत्समाज में तो उसका कोई भी आदर नहीं ही हो सकता। श्रीमद्भागवत का अनुशीलन करने वाले तो जानते हैं कि भागवत् में दाशरथी रामजी के अतिरिक्त अन्य किसी का भी चरित्र चित्रण ऐसा नहीं है जिसने आर्य-पूज्य गुरुजन के बचन से सुदुस्त्यज सुरेप्सित राज लक्ष्मी को त्यागकर बनगमन किया हो और जो वन में दयिता-प्रिया पत्नी की इच्छा-प्रेरणा से मायामृग-कपटमृग के पीछे दौड़ा हो।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यज सुरेप्सितराजलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।

माया मृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ (११।५।३४)

श्रीमद्भागवत ११ के इस पांचवें अध्याय से तो यही निश्चित होता है कि एकमात्र श्री दाशरथी रामजी का ही कलियुग में ध्यान, नामजप, संकीर्तन पूजन आदि करना चाहिए, और इस वर्तमान कलि में जो सच्चे अर्थों में श्रीमद्भागवत को प्रमाणिक रूप में मानने वाले होंगे वे तो सदा यही प्रार्थना करेंगे कि—

अवधराज सुरराज सिहाहीं । दशरथ धन लखि धनद लजाहीं॥

ऐसी सुरेप्सित, सुदुस्त्यज, अवध की राजलक्ष्मी त्यागी, परम धर्मिष्ठ, आर्य-पिता के वचन को सत्य करणार्थ जिन्होंने वनगमन किया था—

पिता बचन तजि राज उदासी । दण्डक बन बिचरत अविनासी॥

और जो अपनी दयिता-प्राणप्रिया श्री सीता जी की प्रेरणा से मायामृग के पीछे दौड़े थे—

निगम नेति शिव ध्यान न पावा । मायामृग पाछे सो धावा॥

ऐसे महापुरुष ! आपके चरणारविन्दों की मैं बन्दना करता हूं। नवयोगीश्वरों के शब्दों की पुनराबृत्ति करते हुये श्री वेदव्यास जी किंवा श्री शुकदेव जी महाराज जी यही कहते हैं कि—

एवं युगनुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्तिभिः ।
मनुजैरिज्यते राजञ्छ्रेयसामीश्वरो हरिः॥ (११।५।३५)

स्वामी श्री मधुराचार्य जी ने "रामतत्व प्रकाश" में लिखा है कि 'नव योगेश्वरों' ने कहा —

"सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः । (भाग० ११।४।२१)

"जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते" यह वाक्य सब वाक्यों से प्रबल है। क्योंकि इसमें बहुतों का सम्बाद है, जैसे ११वें स्कंध में भगवदुद्धव संबाद समस्त भागवत का सारभूत है—

यत्रात्मविद्या निखिला प्रोक्तो धर्म विनिर्णयः ।

और "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्"

इससे श्रीमद्भागवत का निगमसारत्व सिद्ध है-

निगमकुदुपजह्रे भृंगवद् वेदसारम् ॥

यहाँ भी भागवत को वेद-सार कहा गया है। और भगवदुद्धव सम्वाद भागवत का सार है। इस तरह भगवदुद्धव सम्वाद का सार और नव योगेश्वर निमि सम्वाद-भगवदुद्धव सम्वाद का परमसार है।

अतः 'सीतापतिर्जयति' यह श्रीकृष्ण वाक्य का सारभूत, नव योगेश्वर वाक्य का सारभूत, नारद वाक्य का सारभूत, सूत वाक्य का सारभूत, शुक वाक्य का सारभूत और व्यास वाक्य का सारभूत है। और-

निः सृतं ते मुखाभोजाद् यदाह भगवानजः।
पुत्रेभ्यो भृगु मुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः॥(११।२५।३)

से सिद्ध हुआ कि ब्रह्मा-शिव वाक्य का भी सारभूत है, क्योंकि वह सम्वाद भी इसी के अन्तर्गत है।

शुकदेव जी ने श्रीकृष्ण की वन्दना रूप मंगलाचरण नहीं किया, पर अनेक बार श्रीराम जी की वन्दना करते-मंगलाचरण करते हुये कथारम्भ करते हैं-

गुर्वर्थे त्यक्त राज्यो····· अवतान्नः॥ (९।१०।१४)

श्री श्री रामानन्दीय श्री वैष्णवों के पूर्वाचार्य एवं परम श्रीरामोपासक श्रीवेदव्यास जी ने तथा श्री शुकाचार्य जी ने तो समस्त भागवत में एकमात्र श्री दाशरथी रामजी को ही परतम सिद्ध किया है, और सच्चे अर्थों में तो श्रीमद्भागवतानुयायी, परम आस्तिक उसी को माना है जो इस कलि में एकमात्र श्री दाशरथी रामजी की ही उपासना करता है, उनके अन्य रूपों, अवतारों की नहीं। अर्थात् श्रीराम जी के ही अन्य रूप अवतार एवं लीला में अन्य युगों के लिये ध्येय एवं ग्येय हैं कलि के लिये नहीं। कलि के लिये तो श्रीराम ही ध्येय एवं श्रीरामचरित्र ही ग्येय है।

श्री राघवाष्टकम्

१—जय रघुनन्दन दुष्ट निकन्दन मारुति नन्दन प्रेमघनम् ।
जय सिय त्राता सब सुखदाता राघव पालय दीन जनम् ॥
२—जय मुनि तिय तारी स्ववश बिहारी नृपमख खण्डित शंभु धनुम् ।
जय सिय दूलह रूप अतूलह राघव पालय दीन जनम् ॥
३—सिय अनुज सहाया तजि गृह माया गुह पर दाया कीन्ह घनम् ।
कामद बासी मुनि सुखराशी राघव पालय दीन जनम् ॥
४—प्रिय भरत मनाये दण्डक धाये शूर्पणखा श्रुति घ्राण हनम् ।
पितु गीध उधारे शबरी तारे राघव पालय दीन जनम् ॥
५—हनुमत कपि प्यारे बालि बिदारे कीन्ह सुखी सुग्रीव जनम् ।
सिय शोक्त नशाये मुँदरि पठाये राघव पालय दीन जनम् ॥
६—लंक जराये सेतु बँधाये लिये विभीषण शरण परम् ।
दूत पठाये रिपु समुझाये राघव पालय दीन जनम् ॥
७—घटकर्ण नशाये लक्ष्मण ज्याये मेघनाद शिर बाहु हनम् ।
रावण मारे सीय सुधारे राघव पालय दीन जनम् ॥
८—सँग कीश सुहाये औधहिं आये पुरजन परिजन शोक हरम् ।
राज्यासन चढ़ि "राम कुमारहिं" राघव पालय दीन जनम् ॥
यह अष्टकम् सुन्दर, कलित विनयवर श्री रघुनन्दन चरित परम् ।
नित करै सुपाठै भव भय काटैं राघव पालिहिं दीन जनम् ॥

(अप्रकाशित स्तोत्र मंजरी से)

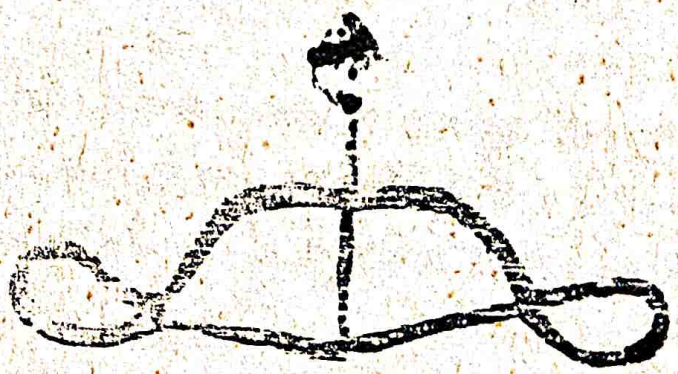

※ गीता का हृदय ※

(एक गीता जयन्ती पर दिये गये प्रवचन का संक्षिप्तांश)

भगवान् वेदव्यास जी ने तारस्वर से उद्घोष किया है कि-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।
या स्वयंपद्मनाभस्य मुख पद्माद्विनिःसृता॥

यदि इस कथानुसार कोई मानव चलना चाहे तो सबसे बड़ी समस्या सामने उपस्थित हो जाती है कि गीता के अन्तर्गत तो कर्म ज्ञान और उपासना का बृहज्जाल बिछा हुआ है। अतः इन तीनों को युगपत् काल में अपनाना उसी प्रकार हास्यास्पद है जैसे कोई प्राणी एक काल में ही बाल्य-यौवन और बार्द्धक्य भोगने की अभिलाषा करने लगे। ज्ञान और कर्म में दिन रात सा शाश्वत विरोध है। इसे प्रातः स्मरणीय गो० श्री तुलसी दास जी महाराज ने तो बहुत ही स्पष्ट कर दिया है-

कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।

अर्थात् आत्मस्वरूप बोध हो जाने पर मानव कर्म के चक्कर में नहीं पड़ता। कर्म, ज्ञान और उपासना का परिपाक भगवत्प्राप्ति ही है। मनुदम्पति ने जो कि-

पथं जात सोहहिं मति धीरा। ज्ञान भक्ति जनु धरे सरीरा॥

थे। वे अट्ठाईस हजार वर्ष तक एक के बाद एक कर्म, ज्ञान और उपासना करके प्रभु के आकाशवाणी द्वारा पूँछने पर नमस्कार करके-बोलेमनुकरिदण्डवत् ..... ।

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बन्दित पद रेनू॥
जौ अनाथ हित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह वर देहू॥
जो स्वरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि यतन कराहीं॥
जो भुसुण्डि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥

ज्ञान के पश्चात् भगवद्भक्ति के समुपलब्ध हो जाने पर कर्म और ज्ञान का क्षार प्रवाह शुष्क होकर पंचत्व में विलीन हो जाता है –

तेहि को नीरस ज्ञान तप छोई लागै। (ध्यान मंजरी)

और पूज्य गो० जी ने तो स्पष्ट ही कह दिया है –

चले हर्षि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भक्ति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥

'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।'' (ना, परि० ३० ३।७७)

श्रुति भी यही आज्ञा देती है। महर्षि व्यास जी ने "सुगीता कर्तव्या" में सु उपसर्ग लगाकर किसी विशेष ग्येय ध्येय की ओर संकेत किया है, वह क्या है? उसी के अभिव्यक्त करने की सदिच्छा जागृत हो रही है।

प्रायः देखा जाता है कि जिसका हृदय और मस्तिष्क विभिन्न होता है वह व्यक्ति समाज में आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता, परन्तु जिसका मस्तिष्क और हृदय समवेत होकर किसी महान् लक्ष्य पर केन्द्रित होता है वही व्यक्ति पूज्य दृष्टि से देखा जाता है।

साहित्य मनीषियों ने गीता को श्री भगवान् का विग्रह प्रतिपादन किया है। विग्रह होने से गीता और भगवान् का अवयव अवयवी सम्बन्ध हो गया। गीता के नवें अध्याय का अन्तिम भाग मध्य में पड़ने से हृदय स्थान और अठारहवें अध्याय को मस्तिष्क की कल्पना की गई है। अब हमें यह देखना है कि आनन्दकन्द, भक्तवत्सल, भगवान् श्रीकृष्ण के श्री मुख की ऐसी कोई बाणी है जो नवें और अठारहवें अध्याय में अर्थतः ही नहीं अपितु शब्दतः भी प्रायः एक ही हो। अर्थात् हृदय और मस्तिष्क समवेत हो। ध्यान पूर्वक अन्वेषण करने से यह विदित हो जायेगा कि नवें अध्याय का ३४ वां श्लोक और अठारहवें अध्याय का ६५ वां श्लोक प्रायः एक ही है –

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ९।३४॥

यह हृदय का हिलोर है और आगे मस्तिष्क का मक्खन है कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८।६५॥

दोनो स्थलों के रेखांकित अन्तर का कारण--हृदय का भाव प्रधानत्व और मस्तिष्क का तर्क प्रधानत्व ही ज्ञात होता है ।

भगवान् तो 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' अर्जुन को बनाकर समस्त संसार को अपनी शाश्वत प्राप्ति के उपाय का निर्देश कर रहे हैं। 'मन्मना भव' अर्थात् अपने मन को मुझमें लीन कर दो अन्यत्र न जाने दो । अर्जुन ही क्या कोई भी मनः विजय का डिमडिम नाद निनादित नही कर सकता । युवक अर्जुन के एकान्त कक्ष में देव लोक की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशी अपने समस्त मोहक प्रसाधनों वस्त्राभूषणादिकों से शृङ्गारित हो अर्द्ध रात्रि के समय जाकर विधुर एवं युवक राजकुमार अर्जुन से प्रणय भिक्षा की याचना की । ऐसी परिस्थिति में जहाँ बड़े बड़े मनीषियों—महर्षियों और योगियों का समस्त योग तप भ्रष्ट हो जाया करता है--

तन मन की सुधि रहत नहिं लगे दृगन की थाप ।
कहुं माला बटुआ कहूं कहुं पोथी कहुं आप ॥

परन्तु अर्जुन ने उस कठिन परिस्थिति में त्रिलोक विजयी मार को ठोकर मारकर सचमुच समुद्र में विन्ध्य को तैरा देने सरीखे महान् कार्य 'मनः विजय' कर लिया । श्राप देने पर भी उर्वशी के डिगाने से न डिगकर उसे धता बताकर सारे देवलोक में अपने मनःयिजय का डंका बजाते हुये देवताओं को आश्चर्यान्वित कर किंकर्तव्य विमूढ़ बना दिया । इस तरह जिन्होंने भारतीय युवकों का मुख समुज्वल कर दिया था,वे ही वीर वर नरावतार नारायण सखा अर्जुन कातर होकर कह रहे हैं कि—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ (६।२४।)

वायु को मुट्ठी में पकड़ना असम्भव तो है ही तो भी सुउपसर्ग लगाकर और भी दुरूह बना दिया। ज्ञानगरिम-वेदपिता श्रीभगवान ने भी उसे 'दुर्'उपसर्ग लगाकर अर्जुनकी बातका पूर्ण समर्थनकर दिया-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

हमारे साहित्य मनीषियों ने अत्यन्त अन्वेषण के पश्चात् यह सिद्ध कर दिया है कि 'म' अक्षर समस्त वर्णमाला का एक विचित्र व्यंजन है। यह जिस शब्द के अन्त में रहा आया है उस शब्द से वाच्य-शान्त, दान्त, धीर, गम्भीर और अनेक सद्गुणों से सम्पन्न रहा है, परन्तु जिसके आदि में 'म' वर्ण विन्यस्त हो चुका है उस शब्द से वाच्य को अत्यन्त ही चंचल पाया गया है। यथा—

मनो मधुकरो मेघो मानिनी मदनो मरुत।
मा मदो मकटो मत्स्यो मक्षिकादीनि चञ्चलाः॥

अर्जुन के मनोभावों को समझते हुये भगवान् ने कहा कि यदि तुम मुझमें मन नही लगा सकते तो "मद्भक्तः भव" इतना सुनकर भी अर्जुन के मुख पर उदासी की रेखा नृत्य करती ही रही। वे सोचने लगे यदि भगवच्चरणों में मन का लीन करना मोम के दाँतो से वज्र-हीरा का चबाना है—

मैन के दशन कुलिश के मोदक कहत सुनत बौराई॥
(कृष्ण गीतावली)

तो भक्त होना भी तो इन्हीं दाँतों से लोहे का चना चबाना है—

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार सोइ जानै जेहि बनि आई॥
(विनय पत्रिका)

इसमें भी सर्वथा असमर्थ समझकर भगवान् ने कहा कि यदि तुम यह भी नहीं कर सकते तो "मत् याजी भव" अर्थात् मेरी पूजा करो। भक्तराज श्री अर्जुन जी विचारने लगे कि पूजा में भी तो पुण्य के साथ ही हो सकने वाले अनेक अपराध गिनाये गये हैं, कितने उप

चारों को एक साथ करना पड़ता है और उसमें भी तो बहुत ही खट-राग है। यह तो 'मघवा' शब्द का अर्थ 'बिडौजा' हो गया, अर्थात् जो मघवा शब्द का अर्थ तो समझा नहीं उसे 'इन्द्र' प्रचलित अर्थ न कहकर बिडौजा कहकर समझाने का प्रयास हुआ—'ताड़ के गिरा खजूर पर अटका।' की दशा के समान अर्जुन जी के मुखारबिन्द पर चिन्ता का प्रभुत्व बना ही रहा। यह दशा देख भक्त वत्सल भगवान् ने कहा अच्छा अर्जुन! यदि तुम यह भी करने में सर्वथा असमर्थ हो तो 'माम् नमस्कुरु' अर्थात् तुम अत्यन्त दीन होकर मुझे नमस्कार ही कर लिया करो, इसी से तुम्हें चिरन्तन शाश्वत भगवद्धाम सायुज्य की प्राप्ति होगी। मैं तुमसे प्रतिज्ञा करके कहता हूँ। क्योंकि तुम मेरे प्रियभक्त हो।

नमस्कार की महिमा हमारे शास्त्रियों ने बहुत कही है—

अञ्जलिः परमा मुद्रा सद्यो देव-प्रसादिनीम्।

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी
तेउ सुनि सरन सामुहे आये। सकृत प्रनाम किये अपनाये
भलो मानिहैं रघुनाथ हाथ जोरि जो माथो नाइहै।
तत्काल तुलसीदास जीवन जन्म को फल पाइहै॥

(विनय पत्रिका)

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्र जी की प्रतिज्ञा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(बाल्मी० रा०)

अस्तु। इस प्रकार भगवान् के आश्वासन देने पर अर्जुन जी ने स्पष्ट कह दिया कि 'करिष्ये वचनं तव' अर्थात् यह नमस्कार रूप वचन का पालन तो किसी तरह हो ही सकता है, अतः इसे करूंगा ही।

इसका निष्कर्ष यह कि कोई भी व्यक्ति सर्व साधन शून्य-निरुपाय होकर हृदय के भाव से और मस्तिष्क से सारी कल्पनाओं को हटा कर केवल भगवच्चरणों में प्रणाम कर लेने से ही भगवत्प्राप्ति का लाभ

कर ले सकता है। उसे फिर इस माया मरुमरीचिकामयी संसार में स्वेच्छा से आकर भी दीन मलीन होकर विलबिलाना नहीं पड़ता। मृत्युंजयी पाण्डव-पितामह भीष्म जी ने इसी भगवद्वाक्य 'मां नमस्कुरु' 'माम् एव एष्यसि' पर दृढ़ निश्चय करके अपना निर्णीत तथ्य उद्घोषित किया है कि—

एकस्य कृष्णस्य कृतप्रणामो
दशाश्वमेधाऽवभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥ (पांडव गीता)

15-369
अयोध्या